प्रकृति से कला और वर्ण - विधान (भाग १)

सुरेश चौधरी

चित्रकार पहाड़ी कलम (काँगड़ा, हिमाचल प्रदेश)

गंगा अवतरण (महाबल्लीपुरम मूर्तिशिल्प) छायाचित्र द हेरिटेज लैब

मथुरा की यक्षियाँ . कलकता संग्राहलय

प्रकृति को कला सेवकों ने ' देवशिल्प ' माना है । यह ' देवशिल्प ' विश्वात्मा की रचना है। इस रचना में विश्वात्मा की सर्वश्रेष्ठ कलाकृति मानव है। 'कल्पवृक्ष' या 'परिजात' जैसे शब्द जब हमारे मष्तिस्क से टकराते हैं, तो हमारे चित में देवताओं और असुरों द्वारा किया गया समुद्र मंथन उभर आता है, जिससे 'कल्पवृक्ष' की उत्पत्ति हुई। अपने सानिध्य में कल्पवृक्ष स्वयं देवताओं की मनो इच्छाओं कीपूर्ति करने में सक्षम और देवताओं द्वारा वंदनीय है। तीसरी से सातवीं सदी के कालखंडों में विकसित हुई महाबल्लीपुरम की वास्तु और मूर्तिकला, जो वास्तव में असाधारण और अतुलनीय है। सौन्दर्य तत्व के अधीन पूर्वजों ने इसमें पर्वतों को खोदकर अपने ईष्ट को प्रकट करके अभिव्यक्ति की। इसी मूर्ति शिल्प में 'भगीरथ की तपस्या' का अंकन है, जिसमे मां गंगा को स्वर्ग से मृत्युलोक में प्रकट होते बताया गया है। प्रागैतिहासिक काल के खेती करते, मधु इकठ्ठा करते शैलचित्रों से लेकर, प्रकृति कला के साथ अपनी विभिन्न कालखंडों की निरंतर यात्रा में काँगड़ा शैली के वर्ण – विधान और इन लघु चित्रों में सुन्दरता का अटूट अंग बनकर हमारे सम्मुख प्रकट हुई है। हमारे पूर्वजों द्वारा लिखे गए प्राचीन साहित्य और कलाकृतियों में ऐसे अनेकों उदाहरण प्रकट हो जाएंगे, जहाँ स्वयं देवताओं द्वारा प्रकृति वंदनीय हो। वास्तव में भारतीय कला में प्रकृति ने ठीक वैसा ही स्थान पाया है, जैसे कि वो हमारी दिनचर्या में प्रेरक, सहायक आदि रूपों में विद्यमान है।

मन के सूने प्रदेश में समुद्र की लहरों की भांति भाव उत्पन्न होते है। ये समुद्रीय लहरों की भांति कभी शांत तो कभी विकराल रूप में प्रकट होकर विलीन हो जाते हैं। मन के इन भावों को कलासाधक प्रकृति से ही प्रेरणा पाकर कला में सौन्दर्य भरता है। वास्तव में कला एक सेतु है, जो प्रकृति से प्रेरित इन मनोभावों को दर्शक या समाज तक पहुँचाने का कार्य करती है। मानव जीवन में सौन्दर्य भर देना कला का परम लक्ष्य है। देवताओं का प्रमुख लक्षण सुन्दरता है। इसी सुन्दरता को कलाकृतियों में भरने का प्रयास करना मानव का स्वभाव भी है और आबश्यकता भी। प्रकृति में यदि सौन्दर्य विद्यमान नहीं होगा तो वह रसहीन लगेगी। जहाँ रस होगा, वहीं जीवन और कला निवास करते हैं। प्रकांड विद्वान् "श्री बासुदेव शरण अग्रवाल" जी अपनी पुस्तक " कला और संस्कृति" में कहते हैं "ऐसा माना जाता है कि रस की अनुभूति करने के लिए स्वयं ब्रह्मा ने इस सृष्टि की रचना की थी –

रसेन तृप्तः न कुतश्चनोनः ।

एक अभिभाजित रस इस सृष्टि में सर्वत्र है। प्रकृति में इस मधुर रस के असंख्य सरोबर भरे पड़े हैं। इस रस को ग्रहण करने के अनेक द्वार हैं। जिनमे से काव्य, कला, संगीत, साहित्य, शिल्प आदि हैं। यह बड़ी सीधी बात है कि जिस देश में जिस युग में कला की मार्गदर्शक, पवित्र दुग्ध नदी बहती हो, वह देश रस से धन्य हो जाता है। कला की भाषा बड़ी सत्यार्थ होती है। कलासाधक जैसा प्रकृति से प्रेरणा लेगा वह प्रकृति को उसी सत्य और सुन्दरता से कलाकृति के माध्यम से समाज में प्रस्तुत कर देगा।

बौध्त्स्व पद्मपाणी , अजंता गुफा संख्या 1, दूसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व – सातवीं शताब्दी

यही सबसे बड़ा कारण है कि हम प्रागैतिहासिक काल से लेकर वर्तमान तक चली आ रही मानव के विकासक्रम की इस कला झांकी में विभिन्न कालखंडों में आध्यात्मिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक आदि पक्षों और तत्कालीन दिनचर्या को इतनी सच्चाई के साथ साक्षताकार कर लेते हैं | प्राक्रतिक अलंकरणों द्वारा कला में सौन्दर्य को बढ़ाने का प्रचलन हमारे पूर्वजों ने प्राचीन काल से ही प्रारंभ कर दिया था। पुष्पों , लताओं, तरुओं, भंवरों, कीट – पतंगों , तितलियों, पशु – पक्षियों, पीपल, खजूर, बरगद, कदम्ब, अशोक , केला, गूलर, आदि ने भारतीय कला में बड़े ही यथार्थ भाव से स्थान ग्रहण किया है। सिन्धु घाटी में प्रकृति मुहरों में " प्रकृति देवी " के नाम से प्रकट हो जाती है। वैदिक काल में यह हमारे देवताओं का स्थान ले लेती है | बौधकाल में यह अजंता , की भितियों में अटूट फूल - पत्तियों, पशु - पक्षियों के अलंकरणों से होकर बुद्ध के सर पर घोंगों, और मुकुट पर पखों और पुष्पों के साथ साथ बुद्ध के हाथों में कमल के पुष्पों के रूप में प्रकट हो जाती है। मौर्यकालीन अशोक की 70 फीट की बलुआ लाटों पर यही प्रकृति चौकी और शीर्ष पर कमल के पुष्पों, पत्तियों, सिंह, बैल, हाथी, घोड़ों आदि में समाहित है। शुंग काल में भरहुत और साँची के स्तूपों में यह कल्पवृक्ष, बोधिवृक्ष हमारे सामने अवतरित हो जाते हैं। पल्ल्बों के काल से लेकर कुषाणों तक पनपी गंधार कला में बुद्ध की चौकी में सुंदर फूलों के अलंकरण हैं। पहली, सांतवीं शताब्दी में लाल बलुए पत्थर की मथुरा की कला अस्तित्व में थी। यह कला हिन्दू, बुद्ध, जैन धर्मों को समर्पित थी। इसमें नारियों के उद्यान क्रीडा, जल क्रीडा, कुटुंब क्रीडा, बंशी और वीणा वादन आदि रूपों में किनारों पर फूल पत्तियों और पशु पक्षियों के अलंकरण हैं। हाथ में पिंजरा लिए तोते बाली स्त्री, और कंधे पर बैठे तोतेसे बात करती स्त्री जगत प्रसिद्ध हैं।

तीसरी से पांचवीं शताब्दी तक भारतवर्ष में गुप्तों का कालखंड है। भारतीय काल निर्धारण में विद्वानों ने इसे स्वर्ण युग गिना है। पूर्वर्ती युगों में कुषाणों के समय से चला आ रहा कला केंद्र मथुरा ही इस शैली का भी केंद्र रहा। पृथ्वी को देवी के रूप में भगवान् वराह के कंधे पर विराजमान हुए हम देखते हैं। समुद्र के तट पर अनेक देवी देवता और ऋषि मुनि वर्णित हैं। तमिलनाडु के कांचीपुरम और महाबल्लीपुरम में पल्लवों ने समुद्र के तट पर विशाल चट्टानों को खोदकर रथ बना डाले।

नंदबाबा और कृष्णा गोवर्धन पर्वत की पूजा करते हुए, शैली : काँगड़ा

इसमें बड़ा यथार्थ कार्य हुआ है। इसमें हिन्दू धर्म की अनेक मूर्तियाँ हैं। सिंह पर विराजमान महिषासुरमर्दिनी परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से बड़े महत्त्व की है। छठी से दशवीं शताब्दी के मध्य राष्ट्रकूटों ने एलिफेंटा, एलोरा जैसे विश्व प्रसिद्ध कला केन्द्रों का पहाड़ों को खोखला कर निर्माण किया। इन मंदिरों और मूर्तियों में अनेकों अलंकरण हमारे सामने प्रकट होते हैं। जो देवताओं की दिनचर्या का हिस्सा और आवश्यकता सी प्रतीत होते हैं। त्रिमूर्ति के मुकुट को विभिन्न प्रकार के फूल पतियों के अलंकरणों से संवारा गया है। चोलों ने प्रसिद्ध नटराज की मूर्ति की रचना करके उसमे भगवान् शंकर को कला का देवता घोषित कर दिया। नटराज को इस प्रकृति का संहारक और रचयिता बना दिया। वास्तव में भारतीय कला का संबध आत्मा से है। पूर्वजों द्वारा बनाई गई इन कलाकृतियों और मंदिरों के सामने जाकर हम आज भी नतमस्तक होकर मनोकामनाएं मांग लेते हैं और घंटों इन केन्द्रों में बैठकर ध्यान लगाकर शांति खोज लेते हैं। क्षमा याचनाएं करते हैं, शक्ति मांगते हैं, और न जाने क्या - क्या। प्रसिद्ध कवि और राजनीतिज्ञ श्री अटल बिहारी बाजपाई जी ने एक बार कहा था कि भारतीय मंदिर तो प्रेरणा का केंद्र हैं। इन सब उदाहरणों के अतिरिक्त भारतीय कला में अनगिनत ऐसे उदाहरण हैं जिनको देखकर यह सपष्ट हो जाता है कि भारतीय कला और प्रकृति का सम्बन्ध अटूट रहा है। भारतीय कला को देखकर यही प्रतीत होता है कि प्रकृति के बिना तो कला की कल्पना मात्र भी नहीं की जा सकती। कोई ऐसी कला कृति नहीं ज्ञात होती जिसमें प्रकृति का दखल न हो। कभी अलंकरणों के माध्यम से सौन्दर्य को बढ़ाना, तो कभी विषय के बंधन के कारण कलाकृति को और विश्वसनीय सिद्ध करने के उद्देश्य से प्रकृति कलाकृतियों में रहस्यमई ढंग से प्रकट हो ही जाती है।

वराह अवतार , गुप्त काल

माध्यम

मानव को प्रकृति ने कहीं भी अपने से अलग नहीं किया है। इसी के सानिध्य से मानव ने कला निर्मिती की है। प्रकृति से कला निर्माण के दूसरे पहलू हम देखते हैं। पहला यह है कि मन में जो सौन्दर्य भाव जागते हैं उसमे मुख्य भूमिका प्रकृति की है। दूसरा पहलू इन जगे हुए भावों को किस माध्यम से कलाकृति द्वारा समाज के सामने लाना है। माध्यम से यहाँ पर अभिप्राय चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला, संगीतकला, काव्य, साहित्य अभिनय आदि से है। इन सभी विधाओं में सामग्री के रूप में प्रयुक्त होने बाले साधन ही माध्यम कहे जाते हैं। जैसे – मूर्तिकला के लिए पत्थर , धातु , और उसके औजार आदि। चित्रकला के लिए कागज, धरातल, वर्ण – विधान आदि। अतः ऐसे सभी प्रकार के साधन हम प्रकृति से ही लेते हैं। भारतीय कला में प्रयुक्त होने बाले माध्यम का अध्ययन करने पर हम जान जाते हैं कि प्रस्तुत कलाकृतियों का माध्यम का संबध कहाँ से और क्या रहा होगा। सिन्धु घाटी में कीरथर पहाड़ियों से सफेद खड़िया पत्थर प्रयोग किया गया है। साथ ही मृण मूर्तियों के लिए कांचली मिटटी की विधि का प्रयोग है। मौर्य काल में जो हलके गुलाबी रंग के पत्थर का प्रयोग है वो चुनार की खदानों से लिया गया है। चित्तीदार बलुआ पत्थर जो मजिठिया रंग का है व्याना और सीकरी आदि स्थानों से लिया गया है। गंधार कला के लिए नीला सलेटी पत्थर प्रयोग में लिया गया है। स्थानीय महाबरी पत्थर का प्रयोग गुप्त काल में किया गया है। गहरा कालाऔर नीला पत्थर पाल वंश ने प्रयुक्त किया है। चालुक्यों ने पीले बलुआ पत्थर का प्रयोग किया है। अमरावती आदि स्तूपों में सफ़ेद खड़िया पत्थर है। ठीक इसी प्रकार चित्रकला में प्रयुक्त होने बाले प्राक्रतिक रंगों का हम चर्चा करेंगे। जो प्राचीन काल से लेकर काँगड़ा शैली तक वर्तमान में भी हम लोग प्रयोग कर रहे हैं।

प्रागैतिहासिक काल के केंद्रों मिर्जापुर, सिंघनपुर, भीमबेटका ,पंचमढ़ी, रायगढ़ आदि कलासंसार को देखने पर हम पाते हैं कि किस प्रकार से मानव का विकास उन शैल चित्रों के माध्यम से प्रकट हो रहा है। पशुओं का शिकार करते, आग पर खाना बनाते, जादू टोना करते, खेती करते, ये सब तत्कालीन कला धारा से स्पष्ट दृष्टिगोचर है। इन सबको देखने पर हमें पता चलता है कि जब मानव के पास बोलने के लिए भाषा शैली नहीं थी ,कपड़े पहनने का अर्थ उसे पता नहीं था, कच्चा मांस खाता था पर वह उस समय भी चित्रकार था। अपनी तत्कालीन दिनचर्या को उसने गुफाओं की शैलों पर गेरू, रामरज, चर्बी, काजल, लहू आदि से चित्रित कर दिया।

भारतवर्ष में यह कलाधारा धीरे-धीरे निरंतर बहती हुई सिंधु घाटी सभ्यता में पहुंच गई। इसमें मानव का चमत्कारिक और परिष्कृत रूप हमारे सामने प्रकट होता है। प्रागैतिहासिक काल में जिन पशुओं का अपने से भेद करना मानव के लिए जटिल कार्य था, सिंधु घाटी सभ्यता में वह उन पशुओं के साथ खेती करने लगा और उनका दूध दुहने लगा और पूजा करने लगा। कपास की खेती करने लगा और कपास से बने कपड़ों को पहनने लगा। मूर्ति कला के क्षेत्र में इस समय धातुओं से बनी मूर्तियां, मोहरें एवं कांचली विधि का प्रयोग है। बर्तनों में रंगीन आलेखनों का प्रयोग है यह सब रंगों का भी विकास क्रम था। मध्य प्रदेश के जोगीमारा में सफेद चूने के धरातल पर लाल,काले, सफेद रंगों का प्रयोग है। वास्तव में रंग मानव की भावनाओं को व्यक्त करते हैं। कल्पना करिए कि अगर इस ब्रह्मांड में रंग नहीं होंगे तो सृष्टि कैसी दिखेगी ? ठीक वैसी ही स्थिति चित्रकला में भी है । रंग विहीन रेखाचित्र मानव की भावनाओं को पूर्ण रूप से प्रकट करने में सफल नहीं हैं। रंगों की क्रमिक विकास की धारा प्रागैतिहासिक काल से लेकर वर्तमान तक काल तक निरंतर बहती रही है। विज्ञान की दृष्टि से सूर्य का प्रकाश रंगों का प्रमुख स्रोत है। रामायण और महाभारत का कालखंड 600 ईसवी पूर्व से 500 ईसवी पूर्व का माना गया है। मय और विघजित नमक कलाकारों की चर्चा रामायण काव्य में आती है। महाभारत में उषा अनिरुद्ध का प्रसंग आता है जिसमें उषा ने कल्पना शक्ति के आधार पर चित्रांकन किया था। विनय पिटक और थेराथेरी दोनों पाली भाषा के ग्रंथ है, विनय पिटक में राजमहलों के चित्रण की और थेराथेरी में भगवान बुद्ध द्वारा अपने शिष्यों को चित्रकला ना सीखने का आग्रह करना तत्कालीन समाज में चित्रकला की स्थिति के दर्शन करवाता है। अष्टाध्यायी पाणिनि द्वारा लिखी गई रचना है, इसका रचनाकाल छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व माना गया है । इसमें दृश्य चित्रांकन करने की विधियों की चर्चा है। पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व नाट्य शास्त्र में भरत मुनि ने भावनाओं को रंगो द्वारा बताया है। भरत मुनि के अनुसार मानवीय भावनाओं को व्यक्त करने वाले वर्ण इस प्रकार हैं:

स्थाई भाव	रस	वर्ण/ रंग
रति	श्रृंगार	श्याम/हरा
हास	हास्य	सफेद
शोक	करूण	कपोत / स्लेटी / ग्रे
क्रोध	रौद्र	लाल
उत्साह	वीर	नारंगी
भय	भयानक	काला
जुगुप्सा/ घृणा	भीवत्स / विद्रोह	नीला
विस्मय	अद्भुत / आश्चर्य	पीला

महिषासुरमर्दिनी, महाबल्लीपुरम

त्रिमूर्ति , एलिफेंटा

नटराज, चोल कला

पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व में महाकवि कालिदास ने अपने कई महाकाव्यों में चित्रकला की चर्चा की है। कालिदास जी के रघुवंशम में उन्होंने महलों के भित्ति चित्रण में हाथियों के चित्रण की चर्चा की है। वे कहते हैं कि जब ये चित्र ध्वस्त अवस्था में थे, तब भी ये इतने संजीव और जीवंत लग रहे थे कि इन्हें सिंह अपने नाखूनों से कुरेदते थे। मेघदूत में उत्तर मेघ में कालिदास जी कहते हैं:

त्वामालिख्य प्रणयकुपितांधातुरागैः शिलाया
मात्मानंतेचरणपतितं यावदिच्छामि कुर्तुम।
असैरस्तावन्मुहुरूपचितैरदृष्टिरालुप्यतेमें
क्रूरस्तस्मिन्नपिनसहतेसंङ्गमंनौकृतांतः ।।

अर्थात हे प्रिये। प्रणय में रूठी हुई तुम्हें, मैं जब भी गेरू से शीला पर अपने आप को तुम्हारे चरणों में पड़ा हुआ चित्रित करना चाहता हूं, ठीक उसी समय बार-बार मेरी आंखों में उमड़ते आंसुओं के कारणवश, तुम्हारी छवि को मैं ओझल पाता हूं। निर्लज्ज आंसू हमें चित्र में भी मिलने नहीं देते।

दूसरी तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व कामसूत्र में वात्स्यायन ने 64 कलाओं का वर्णन किया है। 11वीं 12वीं शताब्दी में कामसूत्र की टीका जयमंगला में यशोधर पंडित ने चित्रकला के छः अंग बताए हैं:

रूपभेद प्रमाणानि भाव लावण्य योजनम।
सादृश्यंवर्णिका भंग इतिचित्र षडडंगकम्।।

इसमें वर्णिका भंग वर्ण विधान को कहा गया है। 650 ई के आसपास ऋषि मारकंडेय जी ने विष्णु धर्मोत्तर पुराण में चित्रसूत्र नामक अध्याय में चित्रकला को सबसे ऊपर माना है:

कलानां प्रवरं चित्रम धर्मार्थ काम मोक्षादं।
मांगलय प्रथम दोतद्गृहेयत्र प्रतिष्ठिम।।

अर्थात कलाओं में चित्रकला सबसे ऊंची है। जिससे धर्म ,अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है। जिस घर में चित्रों की प्रतिष्ठा होती है उसमें मांगल्य की उपस्थिति रहती है। इसके अतिरिक्त मत्स्य पुराण, अग्नि पुराण, गरुड़ पुराण, पद्म पुराण, हरिवंश पुराण, स्कंद आदि पुराणों में भी चित्रकला का उल्लेख है।

सातवीं शताब्दी में बाणभट्ट ने कादंबरी की रचना की है इसमें नीले, लाल, पीले, सफेद, काले वर्णों का उल्लेख है। इसमें चित्रों तथा भाव चित्रों की भी चर्चा की गई है। साथ ही कादंबरी का तोता वैशम्पायनचित्रकला में बड़ा प्रवीण बताया गया है। लगभग सातवीं शताब्दी के आसपास आचार्य दण्डी ने दशकुमारचरित्त लिखा जिसमें उन्होंने वर्णन किया है कि उस समय राजकुमारों को चित्रकला सीखना अनिवार्य था ।

रामायण , शैली : काँगड़ा

महाकवि कालिदास जी , रघुवंशम
शैली : काँगड़ा
चित्रकार : सुरेश कुमार
माध्यम : वसली पर प्राकृतिक रंग

माता सीता की अग्निपरीक्षा , शैली : काँगड़ा

10वीं 11वीं शताब्दी में धनपाल में तिलकमंजरी ग्रंथ की रचना की, इसमें गंधर्वक नामक चित्रकार का उल्लेख है। 11वीं शताब्दी में सोमदेव ने कथासरितसागर में राजकुमार नरवाहनदतको चित्रकला ,मूर्तिकला, संगीतकला में प्रवीण बताया है। इसमें दरबारी चित्रकारों का भी वर्णन है। 12वीं शताब्दी में हर्षकृत नैषधचरित में चित्रकला का वर्णन है। इन्हें कल्पवल्ली कहा गया है। चित्रलक्षण पांचवीं शताब्दी या इससे पहले का ग्रंथ माना गया है। सकी रचना नग्नजित या भयजित ने की थी। ब्रह्मा ने भयजित को नग्न प्रेतों का चित्रण करने के लिए संसार के पहले आचार्य की उपाधि दी थी। 11वीं शताब्दी में राजा भोज ने समरांगणसूत्रधार में चित्रकला पर विस्तृत चर्चा की है। इसमें 84 अध्यायों में से सातवें भाग में चित्रकर्म में छठे अध्याय में चित्रकला की चर्चा है। 12वीं शताब्दी में चालूक्य राजा सोमेश्वर ने मानसोल्लास की रचना की है। इसे अभिलाषितार्थचिंतामणि भी कहते हैं। सोमेश्वर ने इसमें भीति चित्रण, शुद्ध वर्ण, मिश्र वर्ण, चित्र वर्ण आदि की विधिवत चर्चा की है। गांधार शैली में बने पांचवीं से आठवीं शताब्दी के चित्र जो कि हिंदू कुश पर्वत के नीचे बामिया घाटी में बने थे। इनमें धरातल पर चूने का प्रयोग है गेरू की विभिन्न रंगते हैं और बाह्या रेखाएं काली हैं।महाराष्ट्र की अजंता गुफाओं का चित्रांकन दूसरी ईसवी पूर्व से लेकर सातवीं शताब्दी तक रहा है। इसमें चित्र टेंपरा विधि से बने हैं। लाल रंग से रेखाएं बनाकर ,किसी औजार से दीवार को खोदा जाता था, फिर उसमें रंग भरकर काले या भूरे रंग की सीमा रेखाएं बनाई जाती थीं।इसमें सफेद ,लाल, गेरू ,पीला, हरा, नीला, काजल, टेरावरट पियोड़ी ,नील, आदि का प्रयोग है। बौद्ध भिक्षुओं द्वारा बनाए गए ये चित्र भगवान बुद्ध को समर्पित हैं।

आठवीं से 12वीं शताब्दी तक का कालखंड पाल शैली का है । इसमें चित्रकार धीमान एवं उसके पुत्र वित्त पाल ने कार्य किया है ।इसमें जातक कथाओं पर आधारित चित्र बने हैं। इन चित्रों को लाल, नीला, सफेद ,काला ,गुलाबी, बैंगनी , फाख़्ताई रंगों के प्रयोग से ताड़ पत्रों पर बनाया गया है। दसवीं से 15वीं सदी का समय जैन शैली का रहा है। इसमें चित्र अधिकतर ताड़ पत्रों पर बने हैं और कुछ कागज और कपड़ों पर भी हैं। जैन शैली में पीले, लाल और सोने के रंगों का प्रयोग है । आने वाली राजपूत और मुगल तथा राजस्थानी शैलियों में भी इसका प्रभाव पड़ा है।

(क्रमशः)